Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 SHISRRJ | Volume 4 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

भारतेन्दु युग के नाटक : आधुनिक रंगमंच का उत्थान

आकाश कुमार
सहायक प्राध्यापक (हिंदी),दाउदनगर महाविद्यालय, दाउदनगर,
औरंगाबाद, बिहार।

Article Info
Volume 4, Issue 4
Page Number : 56-60

Publication Issue :
July-August-2021

Article History
Accepted : 03 July 2021
Published : 10 July 2021

शोध सार : भारतेन्दु-युग पुनर्जागरण का युग था। सामाजिक बुराइयों के खिलाफ संघर्ष करने के इस युग में सामाजिकता की भावना पर बल दिया गया। खंड-खंड बँटे इस समाज को एक सूत्र में पिरोने की बात की गई। विभिन्न समाजसुधारक संगठनों में यह पद्धति देखी जा सकती है (आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि) । इसलिए इस युग में अगर नाटक की विधा ने जोड़ पकड़ा तो आश्चर्य की बात नहीं हैं। भारतेंदु मण्डली के लेखकों ने विभिन्न नाटकों का अनुवाद हिंदी में किया, स्वयं नाटकों की रचना की और इससे आगे बढ़कर उनका मंचन भी किया। यह तत्कालीन समय की जरूरत भी थी और नाटक विधा के साथ तर्कसंगत न्याय भी। भारतेंदु युग के लेखकों ने राष्ट्रीय रंगमंच निर्मित करने की दिशा में काम किया। आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की शुरुआत नाटकों से हुई, इसके पीछे संस्कृत और लोकनाट्य की परंपरा मौजूद थी जिसे इस युग के लेखकों ने पुनर्जीवित किया। इस दौर के नाटकों ने कैसे नाटक जैसी विधा को विकसित किया इसपर यह शोधपत्र केन्द्रित है।

बीज शब्द : नाटक, रंगमंच, दृश्यकाव्य, भारतेंदु, प्रसाद, नाट्यशास्त्र, नाट्य।

नाटक के प्रस्तुतिकरण में अनेक व्यक्तियों का सामूहिक परिश्रम काम करता है। इसके अतिरिक्त नाटक इस मायने में तमाम सहित्यिक विधाओं से भिन्न है कि उसका आस्वादन भी सामूहिक ही होता है। नाटक से जो चेतना का विस्तार होता है वह भी सामाजिक ही होता है। यही कारण है कि आज भी विभिन्न विषयों के संबंध में जागरूकता फैलाने का काम नुक्कड़ नाटकों के द्वारा ही किया जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि तत्कालीन देशकाल के संदर्भ में नाटकों की इस भूमिका को भारतेन्दु तथा अन्य लेखकों ने महसूस किया और नाटक लिखे जाने की शुरूआत की। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल को यह बात विलक्षण जान पड़ी कि आधुनिक काल में गद्य साहित्य की शुरूआत नाटकों से हुई, जो पूरे मध्यकाल में सहित्यक्षेत्र से लगभग बाहर ही रहा।

इस दौर में नाटकों के लिखे जाने के साथ-साथ नाटकों का अनुवाद भी खूब हुआ। 'विद्यासुंदर' नाटक जिसका बंगला से अनुवाद भारतेन्दु ने किया था (हाँलाकि यह भी संस्कृत से बंगला में अनूदित था) इस दौर का पहला नाटक माना जाता है। हाँलाकि इसी वर्ष (1868 ई.) शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का नाटक 'जानकीमंगल' भी आ चुका था और स्वयं भारतेन्दु ने इसे हिन्दी का पहला नाटक माना।[1] भारतेन्दु इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार माने जाते हैं, जिन्होंने अनूदित और मौलिक कुल 17 नाटकों की रचना की। इनके अतिरिक्त इस युग के अन्य नाटककारों में हैं- देवकीनंदन त्रिपाठी,

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

शिवनंदन सहाय, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि।

मध्यकाल नाटकों के लिए अंधकार युग की तरह था चाहे यूरोप ही या भारत दोनों ही जगहों पर इस दौर में नाटक जैसी सामूहिक सहित्यिक विधा विलुप्त सी हो गयी या इसपर पाबंदियाँ लगाई गयीं। पुनर्जागरण के दौर में भारतेन्दु युग के नाटककारों ने इसलिए नाटक के महत्व को समझा। इसलिए हम देख सकते हैं कि कितनी गंभीरता से इस दौर के लेखकों ने नाटकों को लिया। इन लेखकों ने न सिर्फ नाटकों की रचना और अनुवाद का काम किया बल्कि नाटकों की समीक्षा, आलोचना से लेकर उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति की व्यवस्था यहाँ तक कि अभिनय का भी काम किया। खुद भारतेन्दु ने कई नाटकों में अभिनय किया।

बनना राष्ट्रीय रंगमंच का:- भारतेन्दु युग के लेखकों ने आधुनिक काल में नाटकों की शुरूआत की। ऐसे में उनके सामने यह प्रश्न तो जरूर ही आकर खड़ा हुआ होगा कि किस तरह के नाटकों से हिन्दी नाटक शुरूआत की जाये? एक पुरानी समृद्ध परंपरा संस्कृत नाटकों की थी जहाँ नाटक को पंचम वेद तक की संज्ञा दी गई थी तो दूसरी ओर पश्चिम के नाटक सामने थे। विल्सन ने 'थियेटर ऑफ हिंदूज' में भारत के बारे में लिखा कि यहाँ के लोगों को अपनी पुरानी संस्कृत की नाट्य परंपरा का निर्वहन करना चाहिए। भारतेन्दु ने इस विषय पर गंभीरता से विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि न तो संस्कृत नाटक और न ही पश्चिमी नाटक का अनुसरण करना चाहिए। उन्होंने लोकनाटक की परंपरा जो मध्यकाल में भी जीवित थी, उसे उठाया और इसे आधुनिक पश्चिमी नाटकों और पारसी थियेटर से जोड़कर परिमार्जित किया। भारतेन्दु के विभिन्न मौलिक नाटकों खासतौर से 'अंधेर नगरी' में इस बात को देखा जा सकता है। इस तरह से भारतेन्दु के सामने जो चुनौती थी कि जर्मन, फ्रेंच, ब्रिटिश आदि की तरह भारतीय रंगमंच का अस्तित्व भी खुलकर सामने आए उसे वे पूरा करते है। यह बात महत्वपूर्ण है कि संस्कृत की समृद्ध परंपरा होने के बावजूद भारतेन्दु राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना के लिए एक नई शुरूआत करते हैं। बच्चन सिंह के अनुसार भारतेंदु के नाटकों 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' में मौजूद ऐसे राजाओं की मौजूदगी और दलाल, गंगापुत्र, भड़ेरिया, कुंजड़िन, कवि, एडिटर आदि पात्रों का होना एक नया प्रस्थान रचता है और इस संबंध में वे यहाँ तक कहते हैं कि- "यह संस्कृत की पिटी हुई परम्परा को पीछे छोड़कर एक क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है।"[2] 'नाटक वा दृश्यकाव्य' निबंध में भारतेन्दु ने लिखा कि संस्कृत नाटकों का अनुसरण हिन्दी नाटकों की रचना के लिए नहीं किया जा सकता है।[3]

नाटकों के विविध रूप:- इस दौर में लिखें गए नाटकों को विषय एवं प्रवृत्ति आदि के आधार पर हिन्दी आलोचना ने इन वर्गो में रखा है- पौराणिक, रोमानी, ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रहसन, प्रतीकवादी वगैरह। खुद भारतेन्दु ने इन विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना की है।

इन विभिन्न नाटकों के मूल में समाज के परिष्कार की भावना ही होती थी। बाल-विवाह, वृद्ध- विवाह के करूण दृश्य और विधवा विवाह को प्रोत्साहित करने वाले दृश्यों की योजना इन नाटकों में की गई। पौराणिक चरित्रों को सामने रखकर सत्य, चरित्र, पतिव्रत आदि के आदर्श पेश किए गए। देश की दुर्दशा बताने वाले नाटकों /प्रहसनों द्वारा राष्ट्रीय भावना जगाने का प्रयत्न हुआ।

सबसे ज्यादा संख्या में इस युग में पौराणिक नाटक लिखे गए। ऐसे नाटक मुख्यत: तीन तरह के थे- राम आधारित, कृष्ण आधारित, अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधारित । इनमें प्रमुख नाटक है- चंद्रावली, ललिता, रामचरितवाली, सीता-वनवास, प्रहलाद चरित, बृहन्नला आदि। पौराणिक नाटक लिखे जाने का कारण अक्सर प्राचीन गौरव को जगाना और भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा आदि समझा जाता है लेकिन इससे ज्यादा जरूरी कारक जनमानस में पौराणिक पात्रों और घटनाओं की मौजूदगी मालूम पड़ता है। इन चरित्रों के द्वारा अपनी बात ज्यादा आसानी से लोगों तक पहुंचा पाना आसान हो जाता है।

इस युग में जो सामाजिक नाटक लिखे गए उसके केन्द्र में स्त्री है। इन नाटकों में बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम' महत्वपूर्ण है जिसमें नारी के पतिव्रत्य को जरूरी बताया गया है और पुरुष के वेश्यागमन का कुपरिणाम भी दिखाया गया है। इसी तरह अन्य नाटक हैं – 'दुखिनी बाला', 'कमल माहिनी भँवर सिंह नाटक' 'विद्या–विनोद' वगैरह। तत्कालीन समाज में जहाँ बाल विवाह होते थे, विधवा विवाह निषेध था, सती प्रथा थी ऐसे नाटकों का महत्त्व बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। इन नाटकों के मूल में सुधारवाही दृष्टिकोण है जो प्राचीन आदर्शों और नये विमर्शों दोनो से समन्वित हुआ है। कहीं–न–कहीं ये नाटक बदलाव की उस श्रृंखला की शरूआती कड़ी हैं जो आज कई रूपों में दिखाई दे रहा है।

भारतेन्दु युग में प्रहसन भी खूब लिखे गए। प्रहसनों की रचना के लिए यह माकूल समय था। पुरातन पोंगापंथी संस्कारों और पाश्चात्य अंधानुकरण दोनों ही पर इस दौर के नाटककारों ने व्यंग्य किये। अंग्रेजी शासन व्यवस्था भी प्रहसनों के व्यंग्य का खूब शिकार बनी। इस युग के प्रहसनों में 'जयनार सिंह की' (देवकीनंदन), 'तन–मन–धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' (राधा चरण गोस्वामी), 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (राधाकृष्ण दास), 'भारत आरत', 'देश–दशा', वगैरह प्रमुख हैं। भारतेंदु कृत 'अंधेर नगरी' की गिनती भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रहसनों में की जाती है। इन तमाम प्रहसनों में अलग–अलग समस्याओं पर तीखे व्यंग्य चलाए गए है। 'अंधेर नगरी' में टके की महिमा बताना ऐसा ही व्यंग्य है।

रोमानी नाटकों में 'रणधीर प्रेममोहिनी' (लाला श्रीनिवासदास) महत्वपूर्ण माना जाता है। हाँलाकि यह एक श्रृंगार केन्द्रित नाटक है लेकिन इसमें भी नाटककार ने उपदेश देने का मोह नहीं छोड़ा है और नाटक में उपदेशों की भरमार है। इसी तरह किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'मयंक मंजरी' का एक संवाद देखने लायक है जिसमें नटी सूत्रधार के यह पूछने पर कि इस नाटक के खेलने पर उसका इतना आग्रह क्यों है, जवाब देती है– "यही कि इसमें मयंक मंजरी ने स्वयंवरा हो के सती धर्म की मर्यादा रखी है.."[4] इस तरह इन नाटकों में भी किसी न किसी तरह का उपदेश दिया गया है।

ऐतिहासिक नाटक भी भारतेन्दु युग में लिखे गए पर उन्हें वह ऊँचाई नहीं मिली जो बाद में जाकर प्रसाद युग में मिली। भारतेन्दु का 'नीलदेवी', राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप सिंह', श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर' काशीनाथ खत्री का 'सिन्धु देश की राजकुमारी' वगैरह इस दौर के प्रमुख ऐतिहासिक नाटक हैं। इन नाटकों का उद्देश्य प्रसाद के नाटकों की तरह ही प्राचीन भारतीय गौरव की याद दिलाकर स्वतंत्रता की चेतना को विकसित करना रहा।

नाटक बनाम रंगमंच: भारतेन्दु युग में रंगमंच का विकास– कोई भी नाटक उपन्यास, कहानी या कविता की तरह केवल पढ़ा जाने वाला सहित्य नहीं होता। नाटक को अगर दृश्यकाव्य कहा गया तो यूँ ही नहीं कहा गया। उसकी रंगमंचीयता भी उसके 'पाठ' जितना ही महत्व रखती है। नाटक केवल पाठ के रूप में अधूरा होता है, उसे पूर्णता रंगमंच पर आकर ही मिलती है। लेकिन यह हिन्दी क्षेत्र के नाटकों का दुर्भाग्य ही रहा कि यहाँ आलोचकों ने तो नाटकों की समीक्षा करने में उसकी रंगमंचीयता को अनदेखा किया ही, ज्यादातर नाटककारों ने भी इस ओर विषेष ध्यान नहीं दिया। डॉ. बच्चन सिंह अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक' में नाटकों की रंगमंचीयता को तवज्जो न देते हुए अरस्तू, दैसियर, लेसिंग, लैब आदि विचारकों के हवाले से नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति ने होने पर भी नाटक के महत्व को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं वे 'दृश्यकाव्य' पद की मनमानी व्याख्या करते हुए यहाँ तक कह डालते हैं कि – 'दृश्यकाव्य में काव्यत्व प्रमुख है और दृश्यत्व गौण'[5]। पुन: वे कहते हैं, 'अभिनेयता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण होने पर भी विषय–वस्तु की संवेदनीयता के आधार पर किसी नाटक को उच्चकोटि का माना जा सकता है। किन्तु इस युग का कोई भी नाटक इस दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।"[6] डॉ. बच्चन सिंह की इस एकतरफा घोषणा के बारे में क्या कहा जाए जबकि वास्तविकता यह है कि पश्चिम में भी शेक्सपीयर के नाटक मूलरूप से रंगमंच पर खेले जाने के लिए ही लिखे गए थे और बर्नाड शॉ ने भी नाटक लिखना शरू करने से पहले रंगमंच का बारीकी से अध्ययन किया था। संस्कृत नाटकों की तो बात ही जुदा है जहाँ 'नाट्यशास्त्र' जैसा महानतम ग्रन्थ मौजूद है जिसमें न केवल रंगमंच की लंबाई–चौड़ाई बताई गई है बल्कि रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह के

निर्माण की विधियाँ भी बताई गयी हैं। रंगमंच के खंभों, भित्तियों पर उत्कीर्णित चित्रों तक का ब्यौरा बताया गया है। यवनिका के रंगों का निर्णय भी वहाँ रस के मुताबिक होता रहा।

प्रो. आनंदनारायण शर्मा इस संबंध में लिखते हैं– "हिन्दी के नाटकों को दृश्यकाव्य न कहकर श्रव्यकाव्य कहना ही अधिक उचित होगा, क्योंकि हिन्दी में जितने भी सहित्यिक नाटक लिखे गए उनमें काव्य गुण तो प्रचुर परिमाण में है किन्तु वे अभिनेयता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।"[7] आगे वे पुन: कहते हैं– "रंगमंच के अभाव में हिन्दी साहित्य के कलेवर का एक सम्पूर्ण अवयव पक्षाघात से पीड़ित रहा है। कुछ नाटककारों ने बर्नाड शॉ आदि के सहित्यिक नाटकों और उनकी लंबी तर्कपूर्ण भूमिकाओं को देखकर यह धादण बद्धमूल कर ली कि रंगमंच से पृथक भी नाटक का अस्तित्व है।"[8] यह संकेत संभवत: प्रसाद की ओर है जिनके नाटकों की रंगमंचीयता की लेकर एक लंबी बहस है। तमाम आलोचकों ने प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीय प्रस्तुति की संभावनाओ पर बैरीकेड लगा दिया लेकिन फिर भी उनके नाटकों का सफल मंचन कई नाट्यकर्मियों ने कुछ संपांदनों के बाद किया ही। लेकिन स्वयं प्रसाद का मत भी इन आलोचकों से अलग नहीं था, वे भी नाटकों की रंगमंचीय प्रस्तुति को नाटक के बाद की चीज मानते हैं जो उनके अनुसार अपरिहार्य नहीं है। अपने 'रंगमंच' शीर्षक निबंध में वे लिखते हैं – "यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है... रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।"[9]

प्रसाद रंगमंच के प्रति अपनी जवाबदेही तय नहीं करते जैसा कि ज्यादातर हिन्दी के नाटककारों ने किया है। इसलिए हम देखते हैं कि प्रसाद के नाटक में रंगसंकेत बहुत ज्यादा हैं, वे नाटक के निर्देशक के लिए कुछ नहीं छोड़ते।

दूसरी ओर अगर भारतेन्दु के नाटकों की ओर देखें तो पाएँगे कि वहाँ रंगसंकेत कम हैं। भारतेन्दु अपने नाटकों में नाट्य निर्देशक के लिए संभावनाएँ छोड़ते हैं। भारतेन्दु स्वयं एक रंगकर्मी थे, नाटक लिखते ही नहीं थे बल्कि खेलते भी थे। इसलिए भारतेन्दु युग में रंगमंच ने अपनी जगह बनाई। इसलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग की अपेक्षा प्रसाद के दौर में नाटक के पाठ का ही विकास होता है रंगमंचीयता अपेक्षाकृत नीचे ही आती है। भारतेन्दु के सामने एक चुनौती थी राष्ट्रीय रंगमंच बनाने की तो दूसरी चुनौती थी पारसी रंगमंच की फूहड़ता से मुकाबला करने की और इसे उन्होने भली भाँति पूरा किया।

भारतेन्दु ने जहाँ एक ओर नाटक लिखना आरंभ किया तो दूसरी ओर रंगमंच के विकास के लिए भी प्रयत्नशील रहे। इस युग में दो तरह का रंगमंच सक्रिय नजर आता है – एक तो व्यावासायिक रंगमंच जो ज्यादातर पारसी थियेटर था और दूसरा शौकिया रंगमंच जो नाटकों को ऊँचाई प्रदान करने के लिहाज से खोला गया। इस दौर में कई नाट्य मंडलियाँ बनी जिन्होंने शौकिया तौर पर नाटकों का मंचन कर हिन्दी रंगमंच का स्वरूप तैयार करना शुरू किया। इनमें श्री रामलीला नाटक मंडली (1889, इलाहाबाद), हिन्दी नाट्य समिति (1908, इलाहाबाद), भारतेन्दु नाटक मंडली (1906, काशी), नागरी नाटक मंडली (1908, काशी) आदि प्रमुख हैं। 1877 ई. के आसपास लखनऊ में 'विधान्त नाट्यशाला' नामक एक संस्था थी जिसके द्वारा 'रामाभिषेक' नाटक खेला गया, फिर बनारस के 'नेशनल थियेटर' द्वारा 'अंधेर नगरी' का भी अभिनय किया गया। कानपुर में इसी समय 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक' खेले गए।

निष्कर्ष : इस तरह से हम देखते है कि भारतेन्दु युग भले ही नाटकों की शुरूआत ही करता हो, पर यह शुरूआत संपूर्ण थी। यहाँ नाटकों का लिखा जाना उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति के लिए भी था केवल पढ़े जाने के लिए नहीं। भारतेन्दु युग के नाटकों का इस तरह से साहित्यिक महत्व तो है कि उसने ब्रजभाषा – खड़ीबोली विवाद के दौर में एक बीच का रास्ता निकाला, आधुनिक हिन्दी गद्य की शुरूआत की, तत्कालीन समस्याओं के प्रति साहित्य की जिम्मेवारी को निभाया; साथ–ही साथ इसका अपना रंगमंचीय महत्व भी है। रंगमंचीयता को लेकर जो उत्साह भारतेन्दु युग में था वह अगर बाद के दौर में भी बना रहता तो शायद हिन्दी नाटक का वर्तमान परिदृश्य कुछ और होता।

संदर्भः

1. भारतेंदु लिखते हैं - "हिन्दी का जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह 'जानकीमंगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल II संवत 1925 में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया।"
2. देखें, समालोचक, अंक 3, (सं) रामविलास शर्मा, अनामिका पब्लिषर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा॰) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 32
3. डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी नाटक, 1989, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, पृष्ठ 30
4. देखें, डॉ. बच्चन सिंह, 1989, पृष्ठ 30
5. वही, पृष्ठ 40
6. वही, पृष्ठ 44
7. वही
8. देखें, समालोचक, 2005, पृष्ठ 29
9. वही
10. देखें, रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 15